Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 1 | ISSN : 2582-0095

संस्कृत-व्याकरण परम्परा में वाक्य-चिन्तन

डॉ० मधुमिता
A-21, बैंकमेन्स कॉलोनी,
चित्रगुप्तनगर, कंकरबाग
पटना, बिहार, भारत

सारांश- वाक्य एक ओर पद–समूह है तो दूसरी ओर यह साकांक्ष पदों को ही अपने घटक के रूप में रखता है। निराकांक्ष पदों का समूह कभी वाक्य की श्रेणी में नहीं आता है। मीमांसकों ने तो पद–समूह के परस्पर सम्बन्ध के लिए तीन सहायक साधनों की भी उपयोगिता बताई है– योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि। ई॰ पूर्व में वाक्य का यही परिदृश्य शास्त्रीय दृष्टिकोण से था। व्याकरण शास्त्र ने वाक्य की औपचारिक परिभाषा में एकतिङ्‌ग अथवा अव्यय, कारक और विशेषण सहित आख्यात पद को वाक्य कहा। परिणाम यह हुआ कि भर्तृहरि के समय तक (प्राय: 400 ई॰) वाक्य के विषय में आठ प्रकार के मतवाद प्रचलित हो गए।

प्रमुख शब्द- मीमांसक, ब्राह्मणग्रन्थ, सुबन्त, तिङन्त, वार्तिक, आख्यात, एकार्थीभाव, वाक्य, योग्यता, आकांक्षा, सन्निधि।

अत्यन्त प्राचीन काल से संस्कृत में वाक्य–विषयक चिन्तन आरम्भ हो चुका था। यद्यपि हमारे प्रथम वाङ्मय अर्थात् वेदों में वाक्यों का प्रयोग होने पर भी उनके विषय में कुछ कहने का संकेत नहीं मिलता तथापि कई वैदिक संहिताओं में (जैसे–यजुर्वेद की संहिताओं में) लम्बे–लम्बे वाक्य बिना किसी विराम के प्रयुक्त हैं। अवश्य ही उनके अर्थ–ज्ञान के लिए उच्चारणकर्ता कहीं न कहीं अपने मन में वाक्य का स्वरूप रखते होंगे किन्तु इस विषय में किसी संहिता या ब्राह्मण ग्रन्थ में संकेत नहीं मिलता। मीमांसकों को आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थों के लम्बे वाक्यों में वाक्य के स्वरूप के निर्धारण की चिन्ता अवश्य हुई, जिसका कालक्रम से वाक्य–चिन्तन की उपलब्ध परम्परा का निरूपण किया जाता है।

पाणिनि - पाणिनि ने स्वतन्त्र रूप से वाक्य के विषय में कुछ नहीं कहा है कि इसका स्वरूप क्या हो किन्तु कारक, समास, इत्यादि पारिभाषिक पदों के समान उन्होंने 'वाक्य' शब्द का भी प्रयोग किया है। वे मानकर चलते थे कि लोग इन पदों का अर्थ जानते हैं। यह तो उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि वाक्य एक शब्दसंज्ञा है।[1] क्योंकि वच् धातु से ण्यत् प्रत्यय लगने पर 'च' का कवर्गादेश शब्दसंज्ञा की स्थिति में ही होता है, तब 'वाक्यम्' बनता है अन्यथा बोलने योग्य के अर्थ में 'वाच्यम्' ही होता है।

वाक्य शब्द का प्रयोग पाणिनि ने कई स्थानों पर किया है। जैसे एक अधिकार सूत्र अष्टमाध्याय में है - **वाक्यस्य टेः प्लुतः उदात्तः** (8.2.82)। अर्थात् इसके बाद के सूत्रों में वाक्य का 'टि' अंश प्लुत और उदात्त दोनों होगा। इसी प्रकार एक अन्य सूत्र है-

वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु। (8.1.8)

अर्थात् वाक्य के आदि में आमन्त्रित पद का द्विर्वचन हो जाता है यदि वह वाक्य असूया (दूसरे के गुणों को सह न पाना)(2), संमति (पूजा), कोप, कुत्सन (निन्दा), भर्त्सन (अपकार के वाचक शब्दों के द्वारा भय उत्पन्न करना)- ये अर्थ उस वाक्य से निकलते हों। काशिका में इस स्थल पर वामन ने टिप्पणी दी है कि ये सब अर्थ प्रयोक्ता के धर्म हैं, (3) अभिधेय अर्थात् वाच्य या वाक्यार्थ के धर्म नहीं है। इसी सूत्र की व्याख्या में वामन ने वाक्य का स्वरूप भी बताया है - एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्। (4) अर्थात् पदों का वह समूह जो एक ही अर्थ में व्यवस्थित हो वह वाक्य है।

काशिका के इस वाक्य-स्वरूप पर जिनेन्द्रबुद्धि ने न्यास-व्याख्या में पतञ्जलि के इस वचन को उद्धृत किया है - **आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्।** वाक्य में मुख्य तत्त्व आख्यात ही है जिसे तिङन्त भी कहते हैं। इसीलिए पतञ्जलि इसी सन्दर्भ में **'एकतिङ् वाक्यम्'** कहकर वाक्य का एक छोटा लक्षण देते हैं। यह तिङन्त या आख्यात अपनी सिद्धि (निष्पत्ति) के लिए कारकों की अपेक्षा तो रखता ही है और उसके अतिरिक्त सहायक अव्ययों को तथा विशेषणों को भी समाविष्ट कर लेता है। इसीलिए 'साव्ययकारक विशेषणम्, यह अंश लक्षण में रखा गया है।

इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए तथा विषय के विश्लेषण के लिए पतञ्जलि ने 'सक्रिया-विशेषणं च' तथा 'आख्यातं सविशेषणम्' के रूप में भी वाक्य स्वरूप को विशकलित किया है। (5) स्थिति जो भी हो पाणिनीय व्याकरण-तन्त्र में वाक्य आख्यात पर ही आश्रित माना जाता है। यह तन्त्र इतना महत्त्वपूर्ण है कि दूसरे सम्प्रदायों ने भी वाक्य के लक्षण में आख्यात या क्रिया की उपेक्षा नहीं की है। उसे किसी न किसी रूप में वाक्य-स्वरूप का आधार बनाया ही है। उदाहरणार्थ बौद्ध सम्प्रदाय के शब्दकोशकार अमर सिंह ने नामलिङ्गानुशासन में वाक्य को इस प्रकार परिभाषित किया है

तिङ् सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।। (6)

यहाँ तिङ् को प्रथम स्थान दिया गया है यद्यपि पाणिनि ने पदलक्षण देते हुए सुप् को प्राथमिकता दी है - **'सुप्तिङन्तं पदम्'।** (7) पाणिनि का अनुसरण करने वाले लोग अमरकोश में भी **'सुप्तिङन्तचयः'** इसप्रकार का पाठ-भेद कर देते हैं। स्थिति जो भी हो तिङन्त या आख्यात का वर्चस्व वाक्य में होता ही है जैसा कि हम आगे वैयाकरणों के शाब्दबोध-सिद्धान्त में देखेंगे।

अमरसिंह ने वाक्य का पहला लक्षण सुबन्त और तिङन्त के समूह के रूप में दिया, किन्तु यह अर्थतत्व के अभाव में वाक्य का अपूर्ण लक्षण होगा। दूसरा लक्षण 'कारकान्विता क्रिया' है जो कुछ दूर तक सह्य है।

जैमिनि - जैमिनि मीमांसा-दर्शन के सूत्रकार तथा प्रवर्तक के रूप में अग्रगण्य हैं। इनका समय 400 ई॰ पू॰से 200 ई॰ पू॰ के बीच में माना गया है। (8) मीमांसा-दर्शन वैदिक विधिवाक्यों की दार्शनिक-तार्किक व्याख्या के क्रम में ब्राह्मण ग्रन्थों के लम्बे सन्दर्भो में वाक्य का स्वरूप निर्धारित करता है। इसी प्रसंग में जैमिनि ने वाक्य की परिभाषा प्रस्तुत की जिसे भारतीय विद्वानों ने बहुत अधिक महत्त्व दिया, जिसके कारण मीमांसा -दर्शन को वाक्यशास्त्र का अभिधान भी मिला। जैमिनि का यह लक्षण है

अर्थेकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्। (9)

सूत्र का पूरा अर्थ है कि वाक्य अर्थ की एकता की अपेक्षा रखता है। ब्राह्मणगत मन्त्रों में जितने पद सम्मिलित होकर, साकांक्ष रहकर एक अर्थ की भावना कराएँ तो वे एक वाक्य के निर्मापक होंगे। इसीलिए किसी-किसी मन्त्र में अनेक वाक्य हैं क्योंकि वहाँ अर्थ की अनेकता है। एक अर्थ या आकांक्षा से परस्पर मिलित शब्द एक ही वाक्य बनाते (**अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्**)। यदि वाक्य को पदों में विभक्त किया जाए (विभागे) तो वे यदि एक वाक्य के अङ्ग हैं तो साकांक्ष रहेंगे। एकपद को दूसरे पद की आकांक्षा रहेगी। इसीलिए जैमिनि ने वाक्य के संयुक्त पक्ष की दृष्टि से 'अर्थैकत्व' को प्रस्तुत किया है, तो दूसरी ओर विभक्त पक्ष की दृष्टि से 'साकांक्ष' को रखा है। जैमिनि का यह वाक्य-लक्षण संपूर्ण विश्व में काल की दृष्टि से प्रथम समन्वित और सन्तोषप्रद लक्षण कहा जा सकता है। इस लक्षण में वाक्यार्थ को प्रमुखता दी गई है।

शबर स्वामी ने इस सन्दर्भ में स्पष्ट कर दिया है कि एक अर्थ से परस्पर जुड़े हुए पदसमूह को वाक्य कहते हैं। [10] मीमांसकों का उपर्युक्त मत भले ही वैयाकरणों तथा अन्य दार्शनिकों के बीच विवाद का विषय रहा तथापि इसकी एक विशिष्टता अवश्य ही समझनी होगी। पाश्चात्त्य विद्वानों ने उपर्युक्त लक्षण को वाक्य का संसार भर में प्रथम लक्षण माना है। भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय के वाक्य-काण्ड में इस लक्षण की प्रस्तुति निम्न प्रकार से की है-

साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम्।

कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते।। [11]

तदनुसार एकार्थक अर्थात् एक प्रयोजन से प्रस्तुत पदों को वाक्य कहते हैं। उसमें गुणवाचक पद अर्थात् विशेषण (क्रिया-विशेषण) भी होने चाहिए। तथापि पूरे वाक्य में कर्म अर्थात् क्रिया की प्रधानता अनिवार्य है। (कर्मप्रधानं गुणवद्)। मीमांसकों तथा वैयाकरणों का यह सिद्धान्त है कि वाक्य में क्रिया की मुख्यता होती है। वाक्य जब अखण्डावस्था में रहता है तो किसी अन्य पद की आकांक्षा नहीं रखता किन्तु जब उसका खण्ड या विभाजन होता है (भेदे) तो इस अवस्था में उसके सभी अवयव (वाक्य घटित पद) साकांक्ष होते हैं अर्थात् प्रत्येक पद दूसरे की उपस्थिति की आकांक्षा करता है (**साकांक्षावयवम्**)। [12]

कात्यायन - कात्यायन ने अष्टाध्यायी के सूत्रों पर वार्तिकों की रचना की है। सूत्रों में आवश्यक संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन के लिए उन्होंने अनेक स्थानों पर टिप्पणियाँ दी हैं। कात्यायन के अनन्तर ही संस्कृत में वार्तिक शब्द प्रचलित हो गया। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में इसका लक्षण इस प्रकार दिया - **उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्।** [13] वस्तुतः वृत्ति के व्याख्यान को वार्तिक (वृत्ति+ठक्) कहते हैं। कात्यायन ने अपने वार्तिकों में इस लक्ष्य की पूर्ति की है। वर्तमान काल में कात्यायन के नाम से कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। उनकी कृति के रूप में महाभाष्य में विवेचित वार्तिकों को ही हम देख सकते हैं। कात्यायन का समय प्रायः 350 ई॰ पू॰ माना जाता है। जैमिनि भी इस काल के आसपास थे।

पतञ्जलि ने कात्यायन के अनेक वार्तिकों का खण्डन किया है। जिन वार्तिकों को उन्होंने स्वीकार किया है वे काशिका आदि पाणिनीय वृत्तियों में संकलित हैं।

कात्यायन ने वाक्य के तीन लक्षण वार्तिकों में दिये हैं, जो पतञ्जलि द्वारा समाह्निक में संकलित-विवेचित हैं। ये इस प्रकार है- [14]

1. आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्।

2. सक्रियाविशेषणं च।

2. एकतिङ्।

पतञ्जलि ने इन लक्षणों का विश्लेषण किया है कि अव्यय सहित, कारक सहित, कारक–विशेषण सहित आख्यात को वाक्य कहते हैं। – **आख्यातं साव्ययं सकारकं सकारकविशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्।** [15] इनके उदाहरण इस प्रकार हैं –

(क) साव्यय आख्यात – **उच्चैः पठति, नीचैः पठति।** यहाँ उच्चैः और नीचैः अव्यय हैं।

सकारक आख्यात ओदनं पचति। यहाँ ओदन कर्मकारक है।

(ग) सकारक विशेषण आख्यात – **ओदनं मृदु विशदं पचति।** यहाँ ओदन कर्मकारक है। उस ओदन के ही दो विशेषण है, मृदु तथा विशद।

जहाँ तक द्वितीय वाक्यलक्षण का संबंध है वहाँ वार्तिक का योग–

विभाग किया गया है जिससे अर्थ निकलता है कि क्रिया–विशेषण से युक्त आख्यात भी वाक्य होता है, जैसे सुष्ठु पचति (अच्छी तरह पकाता है)। स्पष्टतः यहाँ सुष्ठु क्रिया का विशेषण है। मृदु और विशद तो ओदन कर्म के विशेषण थे। इस प्रसंग में पतञ्जलि एक मतान्तर देते हैं कि विशेषणयुक्त आख्यात भी वाक्य होता है, क्योंकि जितने प्रकार के पद हम दे रहे हैं वे सभी आख्यात के विशेषण ही तो हैं – **अपर आह-"आख्यातं सविशेषणम्' इत्येव। सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि।**[16] यह मत आगे चल कर व्याकरण दर्शन में क्रियामुख्य–विशेष्यक शाब्दबोध के रूप में प्रतिफलित हुआ है, क्योंकि क्रिया से जुड़े हुए सभी पद अन्ततः विशेषणीभूत ही होते हैं।

ऐसी स्थिति में हम कात्यायन के तृतीय वाक्यलक्षण को देख सकते हैं। वह लक्षण है– एकतिङ्। एक तिङन्त रहना वाक्य का लक्षण है। इसका उदाहरण पतञ्जलि देते हैं – **ब्रूहि-ब्रूहि।** (बोलो बोलो)। निश्चित रूप से द्विर्वचन नित्यता के अर्थ में है जैसा कि पाणिनि ने विधान किया है नित्यवीप्सयोः (अष्टाध्यायी 8.1.4)।

काशिकाकार ने नित्यता की स्थिति तिङन्त पदों में तथा अव्यय कृदन्तों में दिखाई है क्योंकि नित्यता का अर्थ है आभीक्ष्ण्य अर्थात् पुनः पुनः प्रवृत्ति। यह क्रिया का धर्म है। जिस क्रिया को कर्त्ता प्रधानता से, विराम लिये बिना करता है उसे ही नित्य कहते हैं। जैसे पचति–पचति। – **केषु नित्यता? तिषु अव्ययकृत्सु च। कुत एतत्? आभीक्ष्ण्यमिह नित्यता। आभीक्ष्ण्यं च क्रियाधर्मः। या क्रियां कर्ता प्राधान्येनानुपरमन् करोति तन्नित्यम्। पचति-पचति।** [17] वस्तुतः यहाँ एक ही तिङ् है जो नित्यता के कारण दो बार प्रयुक्त हुआ है। यहाँ दो तिङ् समझने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए।

पतञ्जलि ने **'तिङतिङः'** (अष्टाध्यायी 8.1.28) सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि समान वाक्य में दो तिङन्त पद नहीं होते (**न च समान वाक्ये द्वे तिङन्ते स्तः**)। कात्यायन ने इस सूत्र में अतिङ् पद को निरर्थक बताया है और कहा है कि यहाँ पर नियम एक वाक्य के लिए बनाए गए हैं। एक वाक्य में एक ही तिङन्त पद होता है, दो नहीं। ऐसी स्थिति में जब एक वाक्य दो तिङन्त पदों से युक्त होता ही नहीं तो सूत्र में अतिङ् रखने का कोई लाभ नहीं। [18] यहाँ यह कहा जा सकता है कि पाणिनि ने इस सूत्र में जब अतिङ् पद रखा है तो उनके मन में एक वाक्य में दो तिङन्त रखने की बात अवश्य रही होगी। जैसे– पचति भवति। यहाँ दो तिङन्त पद वर्तमान हैं। प्राचीनकाल में लोक में 'पाको भवति' के स्थान पर 'पचति भवति' ऐसा प्रयोग किया जाता था।

पतञ्जलि - मुनित्रय में अन्तिम रूप से प्रमाण माने गए आचार्य पतञ्जलि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने अष्टाध्यायी के प्रमुख सूत्रों तथा कात्यायन के वार्तिकों की विस्तृत समीक्षा अत्यन्त सरल शब्दों में की है। व्याकरण के दार्शनिक तत्वों को भी इन्होंने सुबोध भाषा में प्रतिपादित किया है। इनकी रचना अर्थ के अनुरूप ही महाभाष्य कही जाती है।

यह केवल व्याकरण का ग्रन्थ नहीं, अपितु तात्कालिक ऐतिहासिक, सामाजिक, भौगोलिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों की सूचना देने के कारण एक विश्वकोश के रूप में है। – **तत्र भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमिति। अतएव महत् शब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।**[19] पतञ्जलि का समय निश्चितप्राय है क्योंकि पुष्यमित्र के द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध यज्ञ में इन्होंने ऋत्विज् का काम किया था। पतञ्जलि स्वयं भी स्वतन्त्र व्याकरण–प्रस्थान का प्रवर्तन कर सकते थे तथापि उन्होंने पाणिनीय प्रस्थान में ही अपना योगदान करना श्रेयस्कर समझा। महाभाष्य में सम्पूर्ण व्याकरण–दर्शन यत्र–तत्र बिखरा हुआ है, जिसे संकलित करने के प्रयास अनेक विद्वानों ने किये। फिर भी महाभाष्य का संपूर्ण आकलन तो एक प्रकार से असंभव ही है। पदमंजरी टीका लिखने वाले हरदत्त ने यह घोषणा की थी कि महाभाष्य को सम्पूर्ण रूप से समझना किसी के लिए भी दुष्कर है।– **तस्य निःशेषतो मन्ये प्रतिपत्तापि दुर्लभः।** [20] महाभाष्य में प्रस्तुत विचारों का आंशिक अनुशीलन अवश्य हो सकता है। इसके प्रथम आह्निक (पस्पशा) को माघ कवि ने शब्दविद्या का हृदय या प्राण कहा है

शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा। [21]

वाक्य–विश्लेषण के क्षेत्र में प्रायः पतञ्जलि और कात्यायन को साथ मिला कर ही देखा गया है जैसाकि ऊपर के कुछ संदर्भो से भी प्रकट होता। फिर भी कहीं–कहीं कात्यायन के विचारों की कटु आलोचना पतञ्जलि ने की है। उनके स्वतंत्र सिद्धान्त इस विषय में समर्थः पदविधिः (अष्टाध्यायी 2.1.1) की व्याख्या में प्रकट हुए हैं। समर्थ शब्द के जो जो अर्थ संभव हैं उनपर पतञ्जलि विचार करते हुए अन्ततः सामर्थ्य के विषय में द्वैत का प्रदर्शन करते हैं। द्वैत यह है कि सामर्थ्य को एकार्थीभाव के रूप में लिया जाए अथवा उसे व्यपेक्षा के रूप में ग्रहण करें – **तथेदमपरं द्वैतं भवति - एकार्थीभावो वा सामर्थ्य स्यात् व्यपेक्षा वेति।** [22] एकार्थीभाव वृत्तिपक्ष है और व्यपेक्षा अवृत्तिपक्ष के अन्तर्गत है। ये दोनों स्वाभाविक हैं – वाक्य और समास। संघात का यदि अर्थ एकत्व के रूप में होता है तो वहाँ समास की स्थिति बनती है जैसे – राजपुरुषः में समास है, एकत्वरूप अर्थ है – **तत्रैकार्थीभावे सामर्थ्येऽधिकारे च सति समास एकः संगृहीतो भवति। प्रदीप (पृ० 314) - यत्र पदान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थीभावः।** [23] यदि इसका विग्रह कर दिया जाय और राज्ञः पुरुषः ऐसा कहा जाय तो यहाँ प्रत्येकपद को एक दूसरे की अपेक्षा होती है। राजा पुरुष की अपेक्षा करता है कि पुरुष मत्संबन्धी है और पुरुष भी राजा की अपेक्षा करता है कि मैं एतदीय हूँ। दोनों के इस अपेक्षारूपी संबन्ध का बोध षष्ठी विभक्ति कराती है। इस पक्ष को व्यपेक्षा सामर्थ्य कहते हैं (**परस्पराकांक्षारूपा व्यपेक्षा**)।[24]

एकार्थीभाव के रूप में सामर्थ्य को मानने पर एकात्मक समास बनता है। दूसरी ओर व्यपेक्षा के रूप में सामर्थ्य को रखने पर विभक्ति– विधान होता है अर्थात् विग्रह–वाक्य बनता है। इस पक्ष में एकात्मक समास का संकलन नहीं होता। [25] कात्यायन ने इसी सन्दर्भ में एक वार्तिक दिया है – **पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्** (महाभाष्य 2.1.1 पृ० 318 पर उद्धृत)। स्पष्टतः कात्यायन के इस निरीक्षण से पतञ्जलि अपनी सहमति दिखाते हैं कि जब वाक्य में (विग्रह–वाक्य में) अर्थों का पार्थक्य होता है और वे परस्पर इतने जुड़े होते हैं कि उनमें एक अर्थ की स्थिति बन जाती है (एकार्थीभाव हो सकता है) तो यह एकार्थीभाव ही समर्थ शब्द के तात्पर्य को प्रकट कर सकता है। राजपुरुषः, यथाशक्ति, पीताम्बरः इत्यादि इसी एका भाव के उत्पाद हैं।

पतञ्जलि ने इस सन्दर्भ में प्रश्न पूछा है कि पृथगर्थता और एकार्थता कहाँ–कहाँ होती है। स्पष्टतः विग्रह वाक्य होने पर पृथगर्थता का अवसर आता है और समास में एकार्थता आती है

क्व पुनः पृथगानि, क्व एकार्थानि? वाक्ये पृथगानि

राज्ञः पुरुषः इति। समासे पुनरेकार्थानि राजपुरुषः इति। (26)

इस प्रकार हम पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि जैसे आरम्भिक वैयाकरणों के वाक्य–विषयक संदर्भो को देख सकते हैं। वाक्य पर अन्य वैयाकरणों के निर्देश के पूर्व न्यायदर्शन तथा उसके प्रवर्तक गौतम के मत का उल्लेख आवश्यक है। न्यायदर्शन में शब्द तथा वाक्य दोनों को अनित्य माना जाता है क्योंकि इस दर्शन के अनुसार ध्वनियाँ तथा उनसे जुड़ी कोई भी चीज अनित्य ही है।

गौतम - न्यायसूत्र के रचयिता महर्षि गौतम को अक्षपाद भी कहा गया है। इनका समय डॉ॰ उमेश मिश्र 400 ई॰ पू॰ तथा डॉ॰ सतीशचन्द्र विद्याभूषण 150 ई॰ में मानते है। (27) वस्तुतः गौतम के काल पर विवाद होने पर भी इनका समय ई॰ पू॰ में ही प्रायः मान्य है। न्यायसूत्र में गौतम ने प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति बताई है। इनमें प्रमाण चार प्रकार के हैं। अन्तिम प्रमाण शब्द है जो आप्त के उपदेश के रूप में होता है। (28) उपदेश वाक्य में प्रकाशित होता है, इसीलिए परवर्ती नैयायिकों ने आप्तवाक्यं शब्दः' ऐसा लक्षण दिया है। (29)

गौतम ने न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय में शब्द प्रमाण की परीक्षा करते हुए ब्राह्मण वाक्यों के प्रामाण्य का भी प्रतिपादन किया है। ब्राह्मण वाक्यों का जो तीन प्रकार का विभाग होता है (विधि, अर्थवाद तथा अनुवाद) वह सब का सब प्रामाणिक है इसलिए संपूर्ण वेद प्रमाण है – **वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्। विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्।** (30) यद्यपि वाक्य के लक्षण पर गौतम कोई विशेष प्रकाश नहीं डालते तथापि वेद के वाक्यों को वे निर्दिष्ट करते हैं। जिस प्रकार वेदवाक्य प्रमाण है वैसे ही लोक में आप्त व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त वाक्य प्रामाणिक होते हैं।

न्यायदर्शन में पद–समूह को वाक्य कहा जाता है। ये पद शक्ति से विशिष्ट हैं अथवा लाक्षणिक होते हैं। किन्तु केवल कुछ पदों का समावेश कर देने से ही वाक्य–रचना नहीं हो जाती अपितु उन पदों में आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा तथा तात्पर्य–ज्ञान भी होना चाहिए। (31) इस प्रकार कारण विशेष से न्यायदर्शन में भी वाक्य–मीमांसा हुई है। आगे चलकर जब नव्यन्याय में शब्द खण्ड का स्वतंत्र अध्ययन प्रचलित हुआ तो नैयायिकों का पृथक् शाब्दबोध सिद्धान्त भी चला जिसमें प्रथमान्त पद के अर्थ को विशेष्य मानते हुए (अन्य सभी पदों के अर्थों को विशेषण के रूप में ग्रहण करते हुए) वाक्यार्थ बोध माना जाता है।

भर्तृहरि - प्राचीन संस्कृत व्याकरण–दर्शन के क्षेत्र में दार्शनिक व्यवस्था के प्रवर्तक आचार्य भर्तृहरि थे जिन्होंने न केवल महाभाष्य की व्याख्या दीपिका–टीका के रूप में की अपितु वाक्यपदीय जैसा अनुपम दार्शनिक ग्रन्थ भी लिखा। आज भी यह ग्रन्थ व्याकरण–दर्शन तथा भाषाशास्त्र का सूक्ष्म वैज्ञानिक विवेचन करने वाला अनुपम ग्रन्थरत्न माना जाता है। इसी के कारण दर्शन प्रस्थानों में पाणिनीय दर्शन की स्वतंत्र स्थिति हो गई जैसा कि माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में प्रतिपादित किया है।

वाक्यपदीय तीन काण्डों में विभक्त है –

(क) ब्रह्म काण्ड शब्द ब्रह्म की स्थापना, स्फोट सिद्धान्त तथा वाक्य को भाषा की इकाई बताना।

(ख) वाक्य काण्ड मूलतः वाक्य और वाक्यार्थ का इस काण्ड में विवेचन है। इसके कारण इसे वाक्य काण्ड कहा जाता है। प्रसंगवश इस काण्ड में पद और पदार्थ का भी निरूपण है।

(ग) प्रकीर्ण–काण्ड (पद काण्ड) इसमें व्याकरण से सम्बद्ध विषयों का 14 समुद्देशों में विभाजन करके वर्णन किया गया है। जैसे जाति, द्रव्य, शब्दार्थ सम्बन्ध, गुण, दिक्, काल, साधन (कारक), संख्या, उपग्रह (आत्मनेपद–परस्मैपद),

लिङ्ग इत्यादि। इसका वृत्ति–समुद्देश सबसे बड़ा है। सम्पूर्ण वाक्यपदीय अनुष्टुप् छन्द में रचित कारिकाओं के रूप में है। यद्यपि सभी कारिकाएँ दार्शनिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं तथापि कहीं–कहीं ऐतिहासिक तथ्य भी अर्थवाद के रूप में आये हैं।

भर्तृहरि के समय के विषय में कुछ विवाद है। आरम्भिक इतिहासकार इन्हें नीतिशतक के लेखक के रूप में तथा चीनी यात्री इत्सिंग की सूचना के आधार पर लगभग 650 ई. के आसपास मानते थे किन्तु कतिपय बौद्ध स्रोतों के आधार पर अब इन्हें चौथी शताब्दी ई. में माना जाता है। वाक्यपदीय के टीकाकार हेलाराज ने भर्तृहरि को महाकवि, महायोगी, महाराज तथा अवन्ती का राजा माना है। [32] भर्तृहरि के श्लोक विभिन्न परवर्ती ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड पर तथा आंशिक रूप से द्वितीय काण्ड पर भी स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी थी। यह वृत्ति संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित अम्बाकी टीकासहित वाक्यपदीय में समाविष्ट है। वाक्य–विज्ञान पर भर्तृहरि ने सर्वांगपूर्ण प्रकाश डाला है। यहाँ यह कहना उचित है कि इनका द्वितीय काण्ड वाक्यकाण्ड के रूप में इस विषय पर प्राचीन भारत में लिखे गए ग्रन्थों का सागर है। इसमें वाक्य के विषय में जितने भी मत प्रचलित थे सब के सब संकलित करके लेखक द्वारा विवेचित किए गए हैं।

कैयट - सम्पूर्ण महाभाष्य पर प्राचीनतम उपलब्ध टीका कैयटकृत प्रदीप ही है क्योंकि भर्तृहरि की महाभाष्य दीपिका केवल प्रथम अध्याय के तीन पादों तक ही मिली है। इसीलिए इसे त्रिपादी भी कहते हैं। कैयट ने सम्पूर्ण महाभाष्य के कठिन स्थलों का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। वाक्यपदीय के तीनों काण्डों से उन्होंने शताधिक कारिकाएँ उद्धृत की हैं। महाभाष्य को समझने में प्रदीप व्याख्या प्रकाशस्तम्भ के रूप में है। प्रदीप के महत्त्व के कारण इस पर पन्द्रह लेखकों ने टीकाएँ लिखी हैं। [36] इन टीकाओं में नागेश भट्ट कृत उद्द्योत सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कैयट कश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम जैयट था। उनका समय ग्यारहवीं शताब्दी ई. का पूर्वार्ध माना जाता है।

मम्मट - कश्मीर निवासी मम्मट काव्यप्रकाश नामक साहित्यशास्त्र के प्रौढ़ ग्रन्थ के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। ध्वनि–सिद्धान्त का अन्तिम रूप से प्रतिष्ठापन इन्होंने किया जिससे इन्हें ध्वनि–प्रतिष्ठापक परमाचार्य कहा जाता था। साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण के भी वे महान् विद्वान् थे। महाभाष्य और वाक्यपदीय का उद्धरण देना, शब्द संकेत के विषय में वैयाकरणों के जात्यादि चतुष्टय सिद्धान्त को महत्त्व देना तथा वैयाकरणों को 'बुध' कहना इनके व्याकरण–विषयक पक्षपात का पर्याप्त प्रमाण है। [37] काव्यप्रकाश में मम्मट ने साहित्यशास्त्र के विषयों का विचार करते हुए मीमांसकों के प्रसिद्ध वाक्यार्थ–सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद (भाट्टमत) तथा अन्विताभिधानवाद (गुरु मत) की संक्षिप्त व्याख्या की है। इसलिए वाक्यार्थ के विषय में उनका अपना योगदान भी महत्त्व रखता है। इतना ही नहीं, उन्होंने दोष प्रकरण में वाक्यगत दोषों को भी समाविष्ट किया है जिससे आदर्श वाक्य के संदर्भ में उनकी धारणा का ज्ञान होता है।

विश्वनाथ - साहित्यदर्पण तथा अन्य अनेक ग्रन्थों के रचयिता विश्वनाथ उत्कल के प्रतिष्ठित पण्डित कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम चन्द्रशेखर था जो किसी राज्य में दीवान (सान्धिविग्रहिक) थे। अपने पुत्र के समान ही वे कवि और विद्वान भी थे। विश्वनाथ ने राघव–विलास (महाकाव्य), कुवलयाश्वचरित (प्राकृत–काव्य), प्रभावती–परिणय तथा चन्द्रकला (दोनों नाटिकाएँ) इत्यादि काव्य लिखे थे जिनका उल्लेख उन्होंने साहित्यदर्पण में किया है।
विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में अलावदीन नामक मुसलमान (खिलजी वंशीय) राजा का उल्लेख किया है–

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।

अल्लावदीननृपतौ न संधिर्न च विग्रहः।। (38)

अलावदीन का राज्यकाल 1296 ई॰ से 1316 ई॰ तक था। सम्भव है विश्वनाथ ने उपर्युक्त श्लोक उसके राज्य काल में ही उसके विषय में प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा हो। अतः उनका समय 1300 ई॰ से 1350 ई॰ के बीच में मानना उचित है।

साहित्यदर्पण में रसात्मक 'वाक्य' के रूप में ही काव्य की परिभाषा दी गई है और इस सन्दर्भ में उसके द्वितीय परिच्छेद में वाक्य का सर्वसम्मत लक्षण दिया है जो मुख्यतः नैयायिकों के प्रस्थान में प्रचलित था -

वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।

वाक्योच्चयो महावाक्यम् इत्थं वाक्यं द्विधा मतम्।। (36)

इन्होंने योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहा है। योग्यता का अर्थ है पद के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध होने में बाधा का अभाव **(योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः)।** योग्यता के अभाव में वह्निना सिञ्चति वाक्य नहीं है क्योंकि वह्नि सेचन क्रिया का करण नहीं हो सकता। सेचन का कार्य जल से ही संभव है। इसलिए अर्थो के परस्पर संबन्ध में बाधा हो रही है। बाधा का अभाव ही योग्यता है। इसीप्रकार आकांक्षा किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना है **(आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः)।** वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बना रहना आकांक्षा है। वह वस्तुतः श्रोता की जिज्ञासा के रूप में होती है। जैसे 'देवदत्तो ग्रामम्' इतना कहने से गच्छति इत्यादि क्रिया की जिज्ञासा होती है यही आकांक्षा है। आकांक्षा के बिना वाक्यार्थ –ज्ञान पूरा नहीं होता। इसीलिए निराकांक्ष पदों को वाक्य नहीं कह सकते जैसे गौः, अश्वः पुरुषः हस्ती इत्यादि। आसत्ति प्रकृत में उपयोगी पदार्थों की उपस्थिति का अव्यवधान है। विश्वनाथ ने इसे बुद्धि का अविच्छेद कहा है - **आसत्तिः बुद्ध्यविच्छेदः।।** (37) जिन पदार्थों का किसी प्रकरण में परस्पर संबन्ध है उनके बीच में व्यवधान नहीं होना ही आसत्ति है। यह व्यवधान दो प्रकार से होता है। पदार्थों की उपस्थिति के बीच में अधिक काल आ जाने से अथवा प्रकृत पदार्थों के बीच अनुपयुक्त पदार्थों का आगमन होने से। प्रायः उदाहरणों में लोग कालगत व्यवधान को ही रखते हैं जैसे बहुत देर से वाक्य के भिन्न खण्डों का उच्चारण होने से वाक्य नहीं होता। दूसरा व्यवधान–भेद वाक्य के बीच में दूसरे वाक्यों के टपक पड़ने से होता है, जिससे अन्वय में बाधा होती है। मुख्यरूप से महावाक्यों के बीच में ऐसे प्रसंग आ जाते हैं। महाकाव्यों में या विचित्रमार्गी काव्यों में (गद्य हो या पद्य) कभी–कभी अनावश्यक वर्णन मूल विषय से तालमेल नहीं बैठाते और कथांशों में आसत्ति का अभाव हो जाता है।

विश्वनाथ द्वारा विवेचित सभी प्रसंग बहुत स्पष्ट, निर्विवाद तथा सरल हैं। वाक्य के प्रसंग में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण दिया है जो मीमांसादर्शन में प्रचलित एकवाक्यता के समर्थन में है।

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।। (38)

उनका कथन है कि अपने–अपने अर्थ का बोध पूर्णरूप से करा देने के बाद जो वाक्य समाप्त हो जाते हैं उन वाक्यों में एक दूसरे के साथ अङ्गाङ्गिभाव होता है अर्थात् कोई वाक्य प्रधान और कोई वाक्य उसका अङ्ग बनकर अनेक वाक्यों की संयुक्त रूप से जब सहावस्थिति होती है तो अनेक वाक्यसमूह मिलकर एकवाक्य का ही रूप लेते हैं। इसे एकवाक्यता कहते हैं। मीमांसा दर्शन में विधि वाक्यों तथा अर्थवाद–वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिए इस एकवाक्यता का ग्रहण किया गया है।

परस्पर तालमेल (तारतम्य या सामंजस्य) रखने वाले वाक्यों में एकवाक्यता होती है। इसीप्रकार विशेषणों से युक्त एक अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले वाक्यों में एकवाक्यता होती है। साकांक्ष वाक्यों के रहने पर एक अर्थ की प्रतिपत्ति कराना एकवाक्यता है –

विसंवादिवाक्यत्वम् विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वम्।

साकांक्षत्वे सत्येकार्थप्रतिपत्तिपरत्वम्।। (39)

एकवाक्यता रखने वाले वाक्यों को ही महावाक्य कहा गया है। कोई भी प्रबन्धात्मक रचना महावाक्य होती है।

कोण्डभट्ट - वैयाकरणभूषण नामक ग्रन्थ के रचनाकार के रूप में कोण्डभट्ट की प्रसिद्धि है। ये भट्टोजिदीक्षित के अनुज के पुत्र थे। अत: दीक्षित से एक पीढ़ी पश्चात् 1620 ई॰ में ये विद्यमान रहे होंगे। (40) भट्टोजिदीक्षित की वैयाकरण–सिद्धान्त–कारिका (चौहत्तर श्लोकों का कारिका–ग्रन्थ) पर इन्होंने वैयाकरणभूषण नामक टीका लिखी जो स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। इसका संक्षिप्त रूप वैयाकरणभूषण–सार के नाम से प्रसिद्ध है। इसका बहुत अधिक प्रचार हुआ और अल्प कालमें ही इसपर अनेक टीकाएँ लिखी गई। वाक्यपदीय के आदर्श पर ही व्याकरण–दर्शन का संक्षेपण इन ग्रन्थों में हुआ है। धात्वर्थ, लकारार्थ, सुबर्थ, नामार्थ, समास–शक्ति इत्यादि विषयों पर इसमें विचार है। ये विषय वाक्यानुशीलन के सहायक के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं।

नागेशभट्ट - शेषवंश की शिष्य–परम्परा में भट्टोजिदीक्षित, कोण्डभट्ट तथा नागेश भट्ट प्रमुख थे। नागेश अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् थे। भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित के ये शिष्य थे। नागेश की रचनाएँ विविध विद्या– क्षेत्रों में प्राप्त होती हैं। इनका काल प्राय: निश्चित है क्योंकि 1714 ई॰ में जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह ने अश्वमेध यज्ञ के संचालनार्थ इन्हें बुलाया था किन्तु काशी में क्षेत्र–संन्यास लेने के कारण इन्होंने यह निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया था। इसके आधार पर नागेशभट्ट का कार्यकाल 1700 ई॰ से 1750 ई॰ तक रहा होगा। प्रयाग के निकटस्थ शृंगवेरपुर के राजा रामसिंह से नागेश को वृत्ति मिलती थी।

शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविक:।(41)

नागेशभट्ट के व्याकरण–विषयक ग्रन्थ हैं – शब्देन्दुशेखर (लघु तथा बृहत्), परिभाषेन्दुशेखर, महाभाष्य प्रदीप पर उद्योत टीका, स्फोटवाद तथा व्याकरण दर्शन का ग्रन्थ लघुमंजूषा (इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी इन्होंने किया जो बहुत प्रसिद्ध है – परमलघुमंजूषा। मंजूषा में व्याकरण–दर्शन के सभी तत्त्वों पर विचार किया गया है। कारक तथा विभक्त्यर्थ के विवेचन में वाक्य–विषयक अनेक उद्भावनाएँ नागेशभट्ट ने की हैं। नागेश ने अनेक प्रतिवादियों के मतों का इसमें खण्डन किया है।

शबरस्वामी - मीमांसा–सूत्रों पर सर्वप्रथम पूर्णत: उपलब्ध भाष्य शबरस्वामी का ही है। इनके स्थान, समय तथा जीवन के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। डॉ॰ गंगानाथ झा ने इन्हें कश्मीर या तक्षशिला का निवासी माना है, जबकि डॉ॰ उमेश मिश्र ने इन्हें मिथिला का सिद्ध किया है। इनका समय चौथी शताब्दी ई॰ के पूर्व ही माना गया है। एक परिनिष्ठित मीमांसक के रूप में शबरस्वामी ने मीमांसादर्शन की व्याख्या के क्रम में अनेक ब्राह्मण–वाक्यों की व्याख्या की है तथा विभिन्न विभक्तियों के प्रयोग की पुष्टि की है। इनका एक प्रसिद्ध निरीक्षण है कि वाक्य में क्रिया के उपकारक होने पर भी यह बात आवश्यक नहीं कि सभी कारक समान हैं। प्रत्येक कारक का क्रिया–सिद्धि के प्रति अपना विलक्षण ढंग है, जिससे उनमें परस्पर समानता का प्रश्न नहीं उठता –

सर्वाणि च प्रधानस्योपकुर्युः। भिन्नानि च कार्याणि कुर्युः तद् यथा कारकाणि कर्नादीनि सर्वाणि तावत् क्रियाया उपकुर्वन्ति। अथ च प्रतिकारक क्रिया-भेदः। [42]

शबरस्वामी का एक अन्य निरीक्षण है कि वाक्य में कारक परस्पर विशेषण विशेष्य भाव से सम्बद्ध नहीं होते हैं। एक वाक्य 'अप्सु अवभृथेन चरन्ति' इनका विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि यहाँ अधिकरण तथा करण दोनों पृथक्-पृथक् चरन्ति के साथ सम्बद्ध हैं, परस्पर नहीं।

शबरस्वामी का वाक्य एवं वाक्यार्थ से सम्बद्ध विवेचन मीमांसादर्शन के तर्कपाद (प्रथमपाद) के वाक्याधिकरण के सूत्रों के भाष्य में मिलता है। जैमिनि ने वाक्यार्थ की प्रामाणिकता के विषय में पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष के सूत्र दिये हैं। उनमें एक सूत्र है - **तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्।** [43] यहाँ शबरस्वामी कहते हैं कि वाक्य में विभिन्न पदार्थों में भूतार्थ वृत्ति रखनेवाले (अर्थात् स्थिर) पदों का क्रियापरक पद के साथ ही साथ उच्चारण होता है। वाक्यगत पदों के अर्थों की उपेक्षा करके उनसे स्वाधीन या निरपेक्ष होकर वाक्य कोई दूसरा अर्थ नहीं दे सकता -

तेष्वेव पदार्थेषु भूतानां वर्तमानानां पदानां क्रियार्थेन समुच्चारणम्।

नानपेक्ष्य पदार्थान् पार्थगर्थ्येन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम्। [44]

यह स्मरणीय है कि मीमांसा दर्शन में जो सम्प्रदाय-भेद हुए वे शाबर भाष्य की व्याख्याओं में प्रकट हुए। कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक तथा टुप्टीका नामक व्याख्याओं के द्वारा भाट्ट मत की स्थापना की जिसमें वाक्यार्थविषयक अभिहितान्वयवाद प्रचलित हुआ। दूसरी ओर प्रभाकर मिश्र ने शाबर भाष्य पर बृहती नामक टीका लिखी तथा गुरुमत या प्राभाकर मत का प्रवर्तन किया। इसमें वाक्यार्थ के विषय में मीमांसा दर्शन का परम्परागत मत अन्विताभिधानवाद विकसित हुआ। आगे के सभी मीमांसक इन्हीं में से किसी एक मत के अनुयायी हुए। भर्तृहरि ने वाक्य के जो लक्षण दिये हैं उनमें इन मतों की भी उद्भावना मिलती है।

सन्दर्भ सूची : -

1. पाणिनि - अष्टाध्यायी 7.3.67 वचोऽशब्दसंज्ञायाम्।
2. काशिका- 8.1.8 परगुणानामसहनमसूया।
3. उपरिवत् - एते च प्रयोक्तृधर्मा नाभिधेयधर्माः।
4. महाभाष्य 2.1.1
5. महाभाष्य 2.1.1
6. अमरसिंह - नामलिङ्गानुशासन (अमरकोष) 1.6.2
7. अष्टाध्यायी 1.4.14
8. डॉ॰ उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' - मीमांसा दर्शन, तर्कपाद (शाबर भाष्य सहित), भूमिका, पृष्ठ-8
9. मीमांसा-सूत्र 2.1.46
10. मीमांसा-सूत्र- शाबर भाष्य
11. वाक्यपदीय 2.4.
12. वाक्यपदीय 2.4. पर पुण्यराज की व्याख्या।
13. राजशेखर काव्यमीमांसा, पृ॰-5

14. महाभाष्य 2.1.1 पृ॰ 336–37
15. महाभाष्य– पृ॰ 336
16. महाभाष्य–– 2.1.1 पृ॰ 337
17. काशिकावृत्ति– 8.1.4, पृ॰ 694
18. डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी अर्थ–विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ॰ 301
19. वाक्यपदीय–2.485 पर पुण्यराज की टीका
20. हरदत्त मिश्र पदमञ्जरी
21. माघ– शिशुपालवध 2.112 (उत्तरार्ध)।
22. महाभाष्य –2.1.1, पृ॰ 314
23. महाभाष्य 2.1.1, पृ॰ 315
24. महाभाष्य प्रदीप (कैयट कृत), पृ॰ 314
25. महाभाष्य 2.1.1, पृ॰ 315
26. उपरिवत् पृ॰ 322
27. न्याय दर्शन (चौखम्बा संस्करण) की भूमिका, पृ॰ 19
28. न्यायदर्शन 1.1.7 आप्तोपदेश: शब्द:।
29. अन्नंभट्ट – तर्कसंग्रह, पृ॰ 64
30. न्यायदर्शन 2.1.62–63
31. डॉ॰ काली प्रसाद सिह न्यायदर्शनविमर्श: (कलकत्ता 1980), पृ॰ 177
32. भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र (कपिलदेव द्विवेदी) पृ॰ 494
33. डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी – भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र, पृ॰ 495
34. आचार्य बलदेव उपाध्याय – संस्कृत शास्त्रों का इतिहास (शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1969), पृ॰ 222
35. साहित्यदर्पण– 4.14 के अन्तर्गत उदाहरण, पृ॰ 153
36. साहित्यदर्पण
37. साहित्यदर्पण – 2.1 की वृत्ति
38. साहित्यदर्पण – 2.1 की वृत्ति में उद्धरण –
39. भिक्षु गौरीशंकर – सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षण संग्रह, 2006 (विक्रम संवत), पृ॰ 61,
40. डॉ॰ उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', संस्कृत व्याकरण में कारकतत्वानुशीलन (1994 ई॰),पृ॰18 !
41. नागेशभट्ट – लघुशब्देन्दुशेखर, मंगलाचरण
42. शाबरभाष्य 11.1.7
43. मीमांसा सूत्र 1.1.25
44. शाबरभाष्य 1.1.25